

विलक्षण विचार-भेद ग्रस्त भारत के लिए एक आर्थिक दृष्टिबोध

02

अध्याय

“अर्थशास्त्रियों और दार्शनिकों के विचार, चाहे वे सही हों या गलत, सामान्य धारणा की अपेक्षा कहीं अधिक सशक्त होते हैं। वस्तुतः विश्व पर शायद ही किसी और बात का इतना प्रभाव रहता है।”

-जोहन मेनार्ड कैन्ज

वर्ष 1980 के आसपास से भारत में आर्थिक संवृद्धि रूपी निष्पादन बहुत प्रभावशाली रहा है- एक लोकतांत्रिक समाज की तो यह एक बड़ी उपलब्धि है। इसी क्रम को और बल प्रदान करने वाले नीतिगत सुधारों ने भारत को वस्तुओं एवं पूंजी का मुक्त हृदय से स्वागत करने वाला देश बनने की दिशा में अग्रसर करते हुए व्यष्टि स्तरीय दक्षता और समष्टि स्तरीय राजकोष अंश की दृष्टियों से सार्वजनिक क्षेत्र के आकार को घटाया भी है। किन्तु अभी ऐसी चुनौतियां विद्यमान हैं जो इस दिशा में अधिक तेजी से प्रगति को बाधित कर सकती हैं- इनका एक स्रोत तो यही है कि भारत ने अपनी विकास यात्रा एक भीषण सामाजिक विभाजनों से ग्रस्त (विलक्षण विचार-भेदग्रस्त) लोकतंत्र के रूप में प्रारंभ की थी। इन चिरपोषित चुनौतियों में सम्मिलित हैं संपदा अधिकारों और निजी क्षेत्र के विषय में उभय भाविता (जान बूझकर अपनाया गया अस्पष्ट चिन्तन), सरकार की क्षमताओं (विशेषकर अनिवार्य सेवाओं की आपूर्ति कर पाने में) की त्रुटियां और दक्षताहीन पुनःवितरण। इन चुनौतियों का सामना करने में केवल निहित स्वार्थों को पार करना पर्याप्त नहीं होगा- इसमें तो वैचारिक एवं संप्रेषण-चिन्तन के स्तर पर व्यापक समाजस्तरीय बदलावों की भी आवश्यकता पड़ सकती है।

I. विषय प्रवेश

2.1 भारत की आर्थिक नीतियों के आधार-दर्शन की झलक दिखाने वाले बृहद परिदृश्य में दो प्रावस्थाएं स्पष्ट होती हैं। पहला क्रम तो 'समाजवाद' की लगभग आधी शती का है। इसमें आर्थिक राष्ट्रवाद और संरक्षणवाद ही मार्गदर्शक सिद्धांतों के रूप में स्थापित रहे उन वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्र अर्थतंत्र के नियंत्रण शिखर पर पहुँच गया था और सरकार निजी फर्मों की निवेश, उत्पादन और व्यापार जैसी पूर्णतः व्यष्टि स्तरीय निर्णय प्रक्रिया में भी घुसपैठ करने लगी थी। वह नीति रचना 1991 के बाद से नकार दी गई है (भगवती एवं पानागडिया, 2013)। किन्तु अभी तक यह स्पष्ट नहीं हो पा रहा कि उसके स्थान पर बनी रचना को क्या नाम दिया जाए। आप ये प्रश्न उठा सकते हैं: नीति निर्माताओं ने

अस्वीकार कर दिया है, किस सीमा तक त्याग दिया है और यह पुरानी रचना से विच्छेद किस प्रकार किया गया है। इन प्रश्नों का उत्तर किसी एक सरकार या दल को नहीं देना है- यह प्रश्न तो भारतीय अर्थचिन्तन के व्यापक विचार पटल पर पूछा जा रहा है।

2.2 एक स्तर पर तो इस प्रश्न का उत्तर सहज स्पष्ट प्रतीत होता है। भारत ने अपने 'समाजवादी' वैचारिक दर्शन के स्थान पर "वाशिंगटन सहमति" से मिलते जुलते किसी विचार को स्थापित कर लिया है: इसमें मुक्त व्यापार, मुक्त पूंजी प्रवाह और निजी क्षेत्र पर निर्भरता के उसी प्रतिमान के दर्शन होते हैं जिसका अधिकांश पूर्वी एशिया के देशों में सफलतापूर्वक प्रयोग हुआ है।¹ पिछली एक चौथाई शती में भारत में सत्तासीन रही सभी सरकारों ने इसी प्रकार के सुधारों

¹ चीन को छोड़कर, वह एक विशेष केस है।

की नीतियों का अनुसरण किया है। उदाहरण के लिए वर्तमान सरकार ने पिछले दो वर्षों में अपनी नई मौद्रिक नीति रूप रेखा में निम्न स्फीति दर की प्रतिबद्धता को एक संस्थानात्मक स्वरूप प्रदान कर दिया है। इसी प्रकार व्यवसाय करने की लागतों को घटाने और एक देशीय-विदेशीय निवेश मित्र वातावरण की रचना की दिशा में बड़े प्रयास किए गए हैं। यही नहीं, पिछले 6 मास में (विवरण अध्याय-1 में देखें) सरकार ने आधार विधेयक, दीवालियापन संहिता और वस्तु एवं सेवा कर जैसे संविधान संशोधनों को भी पारित करा लिया गया है।

2.3 पिछले 25 वर्ष से चले इस सुधार क्रम के परिणाम स्वरूप भारत में शानदार बदलाव आया है- यह अब एक अवरूद्ध संवृत और निरूद्योग अर्थव्यवस्था से अनावृत एवं समृद्धिशील अर्थव्यवस्था में परिवर्तित हो चुका है। देश की यह प्रगति केवल गुणात्मक नहीं है। इसका मापन भी हो सकता है। उदाहरण के लिए इन चार मानक मापकों पर विचार करें: व्यापार हेतु खुलापन; विदेशी पूंजी के प्रति खुलापन; व्यापारिक गतिविधियों में सार्वजनिक उपक्रमों के वर्चस्व का स्तर; और सकल व्यय में सरकारी व्यय का अंश।

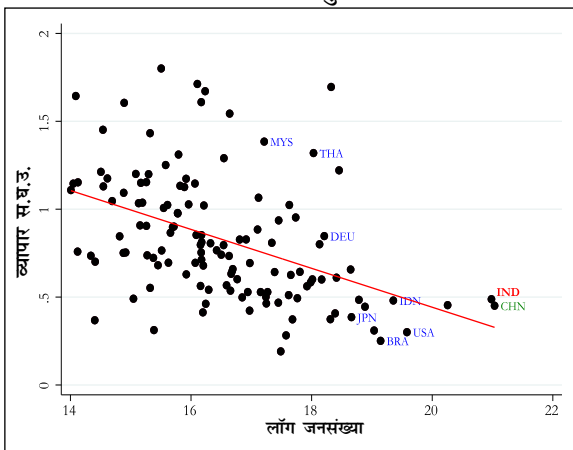
2.4 आइए व्यापार-जीडीपी अनुपात $[(\text{आयात} + \text{निर्यात}) \div \text{सकल घरेलू उत्पाद}]$ से प्रारंभ करें। एक मूलभूत तथ्य तो भूगोल से जुड़ा हुआ है : बड़े आकार के देश छोटे देशों की तुलना में व्यापार (विदेशों से)

कम ही करते हैं। उनके अपने बड़े आकार के कारण उनके लिए शेष विश्व से व्यापार करने के लाभ अपेक्षाकृत उनके अपने आन्तरिक व्यापार की तुलना में कम रह जाते हैं। छोटे देशों की स्थिति इनके एकदम विपरीत होती है : आन्तरिक बाजार का आकार सीमित होने के कारण उनके शेष विश्व से व्यापार के लाभ अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण हो जाते हैं और इसी कारण उनके व्यापार-जीडीपी अनुपात भी प्रायः अधिक रहते हैं।

2.5 रेखा चित्र 1(क) में कई देशों के अपने आकार के साथ उनके व्यापार-जीडीपी अनुपात (ऊर्ध्व अक्ष पर) चित्रित किए गए हैं। देशों का आकार जनसंख्या के लघुगणक द्वारा क्षैतिज अक्ष पर दर्शाया गया है। बिन्दुओं द्वारा विभिन्न देशों की स्थितियां तथा सरल रेखा द्वारा उन देशों के अनुपातों की औसत दिखाई गई है। यह रेखा दाहिनि ओर ढलवां है - और हमारी पूर्ववर्ती भूगोलाधारित अन्तर्दृष्टि की पुष्टि कर रही है कि बड़े देश कम व्यापार करते हैं। उदाहरण के लिए चीन, भारत, ब्राजील, संयुक्त राज्य और जापान सभी दाहिनि ओर के कोण में अवस्थित हैं। इनके व्यापार अंश 50-60 प्रतिशत से कम ही हैं। किन्तु भारत उक्त सरल रेखा से ऊपर है, अर्थात् इसका व्यापार अनुपात इसके आकार के आधार पर अपेक्षित अनुपात से अधिक है, यह 1991 पूर्व की अवधि से बहुत ही अलग (बदलाव) है, उस अवधि में तो भारत का व्यापार स्तर निम्न रहता था।

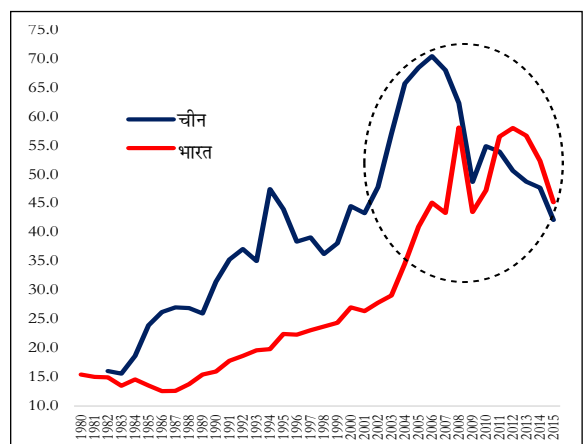
रेखाचित्र 1 : व्यापार (वस्तुएं और सेवाएं)-जीडीपी अनुपात

रेखाचित्र 1(क) : व्यापार (वस्तुएं और सेवाएं)-जीडीपी अनुपात



स्रोत: डब्ल्यूटीओ

रेखाचित्र 1(ख) : व्यापार (वस्तुएं और सेवाएं)-जीडीपी अनुपात



स्रोत: डब्ल्यूटीओ

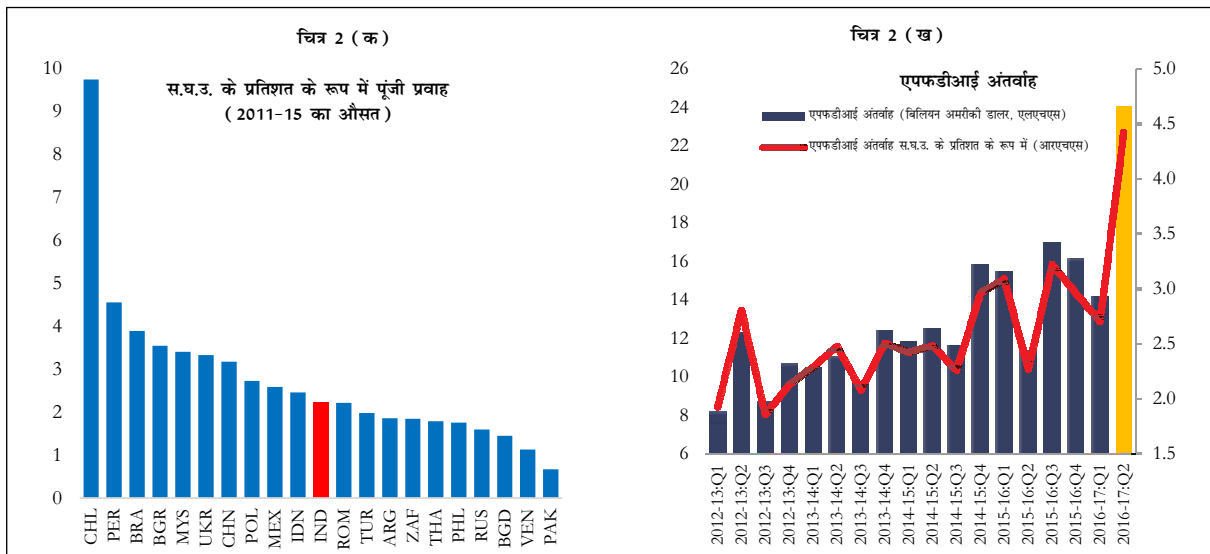
2.6 पिछले तीन दशकों में चीन के साथ तुलना तो भारत के व्यापार-जीडीपी अनुपात के विकास क्रम को और भी अधिक स्पष्ट रूप प्रदान कर देती है। यह बात रेखाचित्र 1(ख) में बड़ी स्पष्ट दिखाई दे रही है। भारत का यह अनुपात तेजी से वृद्धिशील रहा है (विशेषकर 2012 में समाप्त हुए दशक में)। यह लगभग दुगुना होकर 53 प्रतिशत तक पहुँच गया था। भारत 2008 के वैश्विक वित्तीय संकट से भी शीघ्र ही उबर आया था। परिणाम स्वरूप आज भारत इस अनुपात की दृष्टि से चीन से आगे निकल चुका है- यह अपने आप में एक उल्लेखनीय बात है।²

2.7 अगले दो रेखाचित्र भारत के विदेशी पूंजी प्रवाहों का जीडीपी के अंश के रूप में दृश्यांकन कर रहे हैं। रेखाचित्र 2(क) यह स्पष्ट कर रहा है कि भारत में पूंजी प्रवाहों पर महत्वपूर्ण नियंत्रणों के बावजूद यहां आ रहे निवल पूंजी प्रवाह अन्य उदीप्यमान अर्थव्यवस्थाओं के समान प्रायः हैं। रेखाचित्र 2(ख) दर्शा रहा है कि भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेशों के प्रवाह में (आगमान में) तीव्र उछाल आया है। इसका वार्षिक स्तर लगभग +75 बिलियन है- यह चीन में संवृद्धि उत्कर्षकाल (2000-2010 के मध्य) के स्तर से अधिक कम नहीं है।

2.8 अब सार्वजनिक उपक्रमों के आकार पर ध्यान दें। आम धारणा है कि अन्य देशों की तुलना में भारत के सार्वजनिक उपक्रमों (PSUs) का आकार विराटकाय है। यह बात पहले कभी सत्य रही होगी। किन्तु रेखाचित्र 3 दर्शा रहा है कि अब तो इस आकार की दृष्टि से भारत उदीप्यमान अर्थव्यवस्थाओं के मध्यवर्ती क्षेत्र में ही है। इसके कई कारण हैं- एक तो भारत ने नागरिक विमानन, दूरसंचार और वित्तीय सेवाओं के क्षेत्रों में निजी उद्यम को कार्य करने की अनुमति दे दी है। इस कारण से सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा कार्य करना बन्द तो नहीं हुआ है- न ही उन्हें निजी उद्यमियों को बेचा ही गया है- किन्तु निजी उद्यमों के बड़े स्तर पर निवेश के कारण इन क्षेत्रों में सार्वजनिक उपक्रमों का अंश घट गया प्रतीत होता है।

2.9 और आइए अंत में सरकार के आकार पर चर्चा करें। प्रायः भारत पर अनावश्यक रूप से विशाल सरकारी क्षेत्र ढोने का आरोप लगाया जाता है। किन्तु जब अनेक देशों के सरकारी व्यय के आंकड़ों को उनके प्रति व्यक्ति जीडीपी के अनुसार अंकित किया जाता है तो भारत उस बिन्दु समुच्चय की प्रतीपगमन रेखा पर ही अवस्थित दिखाई पड़ता है- अर्थात् इसका सार्वजनिक व्यय उसी स्तर पर है जहां उसके विकास के वर्तमान

रेखाचित्र 2 : पूंजी के प्रति खुलापन

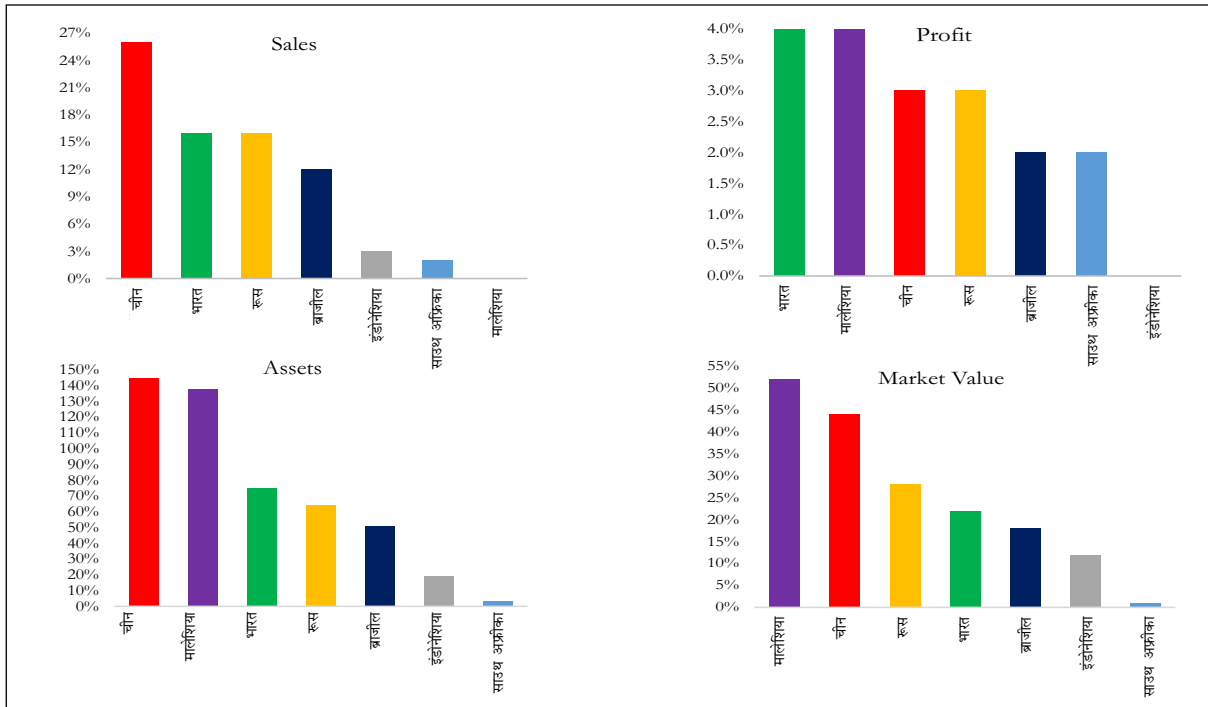


स्रोत: समीक्षा परिकलन

स्रोत: आरबीआई

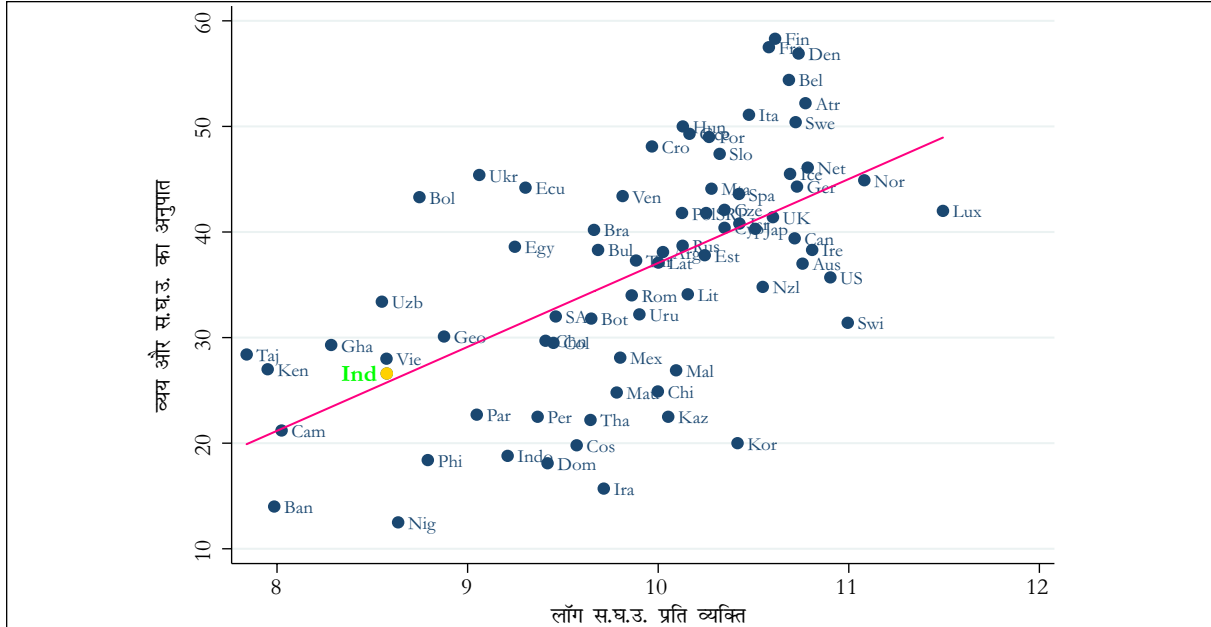
² हाँ, सकल व्यापार और मूल्य वृद्धि व्यापार में अन्तर है। कुछ समय से चीन के व्यापार में मूल्य वृद्धि में बढ़ोतरी होने लगी है। किन्तु भारत के व्यापार में भी यह कम नहीं है। हमारा सेवा क्षेत्रक श्रम सघन है और वैश्विक मूल्य श्रृंखला से कम जुड़ाव के कारण विनिर्माण क्षेत्र में भी उच्च मूल्य वृद्धि हो रही है।

रेखाचित्र 3 : सरकार का आकार (व्यष्टि स्तर पर) : सार्वजनिक उपक्रम व्यय का संकल राष्ट्रीय आय में अंश



स्रोत: आर्थिक समीक्षा 2015-16

रेखाचित्र 4 : सरकार का आकार (समष्टि स्तर पर) : सरकारी व्यय-प्रतिव्यक्ति जीडीपी



स्तर पर उसके होने की अपेक्षा की जाती है।

2.10 कुल मिलाकर मानक मापक यही दर्शा रहे हैं कि भारत अब एक “सामान्य” उदीप्यमान बाजार है, यहां भी एशियाई विकास-पथ का अनुसरण हो रहा है। यह विदेशी व्यापार और निवेश के प्रति निर्बन्धतापूर्ण है-

सरकार न व्यष्टि स्तर पर उद्यमी के रूप में और न ही समष्टि स्तर पर राजकोषीय स्वरूप में अधिक निरंकुश प्रतीत होती है।

2.11 एक अन्य निर्णायक स्वरूप में भी भारत की अवस्था “सामान्य” कही जा सकती है। अन्य उदीप्यमान

अर्थव्यवस्थाओं की भांति ही यहां भी मानक विकास पथ के अनुसरण ने संवृद्धि के मीठे फल सुलभ कराए हैं। यदि दीर्घकालिक दृष्टि से देखें तो भारत में सुधार क्रम 1980 के लगभग प्रारंभ हो गया था (रोड्रिक एवं सुब्रामण्यम, 2004)। यहां पहला महत्वपूर्ण सत्य यही है कि भारत 37 वर्षों से लगभग 4.5 प्रतिशत वार्षिक दर से संवृद्धिशील रहा है। यह एक प्रभावशाली उपलब्धि है।

2.12 यह उपलब्धि एक अन्य कारण से विशेष उल्लेखनीय हो जाती है : यह एक पूर्णरूप से लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत रहते हुए प्राप्त हुई है।³ महायुद्ध पश्चात् के आर्थिक इतिहास में भारतीय प्रतिमान का निरंतर रूप से लोकतान्त्रिक बने रह पाना (वह भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद) अपने आप में एक विलक्षण घटनाक्रम है- प्रायः लोकतंत्र इस प्रकार सफल नहीं रह पाते। रेखाचित्र-5 के Y-अक्ष पर देशों के उत्कर्ष कालों की औसत वार्षिक प्रति व्यक्ति जीडीपी संवृद्धि दरों को अंकित किया गया है। भारत में इसके लिए 1979 के बाद का समय प्रयुक्त किया गया है (देखें रोड्रिक, 2014)। X-अक्ष पर उत्कर्ष काल में लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अंतर्गत बिताए गए वर्षों के

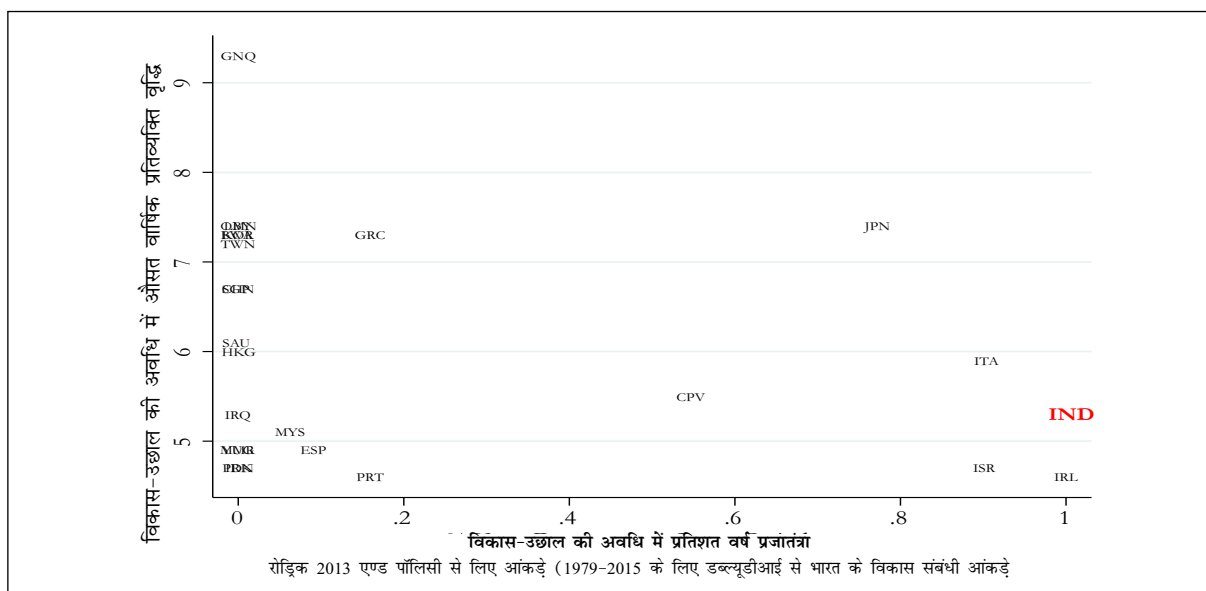
अनुपात हैं। भारत की ही भांति लोकतान्त्रिक अवधि में उत्कर्ष वर्ष अनुपात दिखाने वाले मात्र इटली, जापान, इजराइल और आयरलैंड रहे हैं। अन्य इतने ही तीव्र संवृद्धिशील देश तेल निर्यातक है, पूर्वी एशियाई है या फिर वे हैं जो द्वितीय महायुद्ध की मार से उबर आए हैं।

II. अभी जिस राह पर चलना है

2.13 इन सभी साक्ष्यों पर विचार करें तो भारत की सुधारवादी एवं बाजार उन्मुखता पर प्रश्न उठाना धनलोलुपता का ही परिचायक होगा। फिर भी कहीं न कहीं संदेह सा बना रहता है कि संभवतः जैसा दिखता है, भारत वैसा है नहीं, कि सभी आंकड़ें चाहे जो कुछ दर्शा रहे हों पर भारत अभी मानक विकास प्रतिमान का अनुसरण नहीं कर रहा है।

2.14 तो फिर भारत किस प्रकार से भिन्न है? तीन अभिलक्षण उन संदेहों का आधार हैं कि भारत ने अभी किन्हीं अस्पष्ट और अनिर्दिष्टनीय किन्तु अभीष्ट एवं वांछनीय लक्ष्यों की ओर पर्याप्त रास्ता तय नहीं किया है। सर्वप्रथम तो अभी निजी क्षेत्र को पूर्णरूप से स्वीकार/

रेखाचित्र 5 : एक विलक्षण विचार भेदग्रस्त लोकतंत्र का निष्पादन



³ एक देश को लोकतान्त्रिक माना जाता है यदि राजतंत्र IV सूचक पर इसका अंकमान 7 से अधिक हो। रोड्रिक (2013) ने उत्कर्ष काल उस घटनाक्रम को माना है जब कम से कम 30 वर्षों तक किसी देश में वार्षिक प्रति व्यक्ति आय की संवृद्धि दर 4.5 प्रतिशत अवश्य रही हो।

है कि भारत में अन्य देशों की अपेक्षा बाजार विरोधी भावना कहीं अधिक प्रबल है-वस्तुतः यह भावना प्रारंभ में अपने ही जैसे निम्न प्रतिव्यक्ति जीडीपी स्तर पर रहे देशों की तुलना में भी कहीं अधिक गहन है।

2.16 निजी क्षेत्र के प्रति इस उभयभाविता के लक्षण अनेक स्वरूपों में प्रकट होते हैं। सबसे बड़ा उदाहरण तो सार्वजनिक उपक्रमों के निजीकरण में आ रही कठिनाई ही है। यह कठिनाई उन सरकारी फर्मों को लेकर भी होती है जिन्हें लेकर सभी अर्थशास्त्री यही आग्रह करते हैं कि उन्हें तो होना ही निजी क्षेत्र में चाहिए था। नागरिक उड्डयन की बात लें। संपूर्ण इतिहास को झुठलाते हुए एक निरंतर घाटा उठा रही सरकारी विमानन कंपनी को 'विश्व स्तरीय' (श्रेष्ठ) बनाने को लेकर एक प्रतिबद्धता दिखाई दे जाती है। हाल ही में विमान पट्टनों के निजीकरण के नाम पर स्वामित्व अन्तरण नहीं, केवल प्रबंधन के ठेके दिए गए हैं। यही नहीं, इस क्षेत्र में नीतिगत सुधारों का स्वरूप कभी हस्तक्षेपवादी तो कभी उदारीकरणवादी हो जाता है। यह बात कीमतों के विषय में सरकारी नियामकों द्वारा निर्दिष्ट सीमाओं में बहुत स्पष्ट रूप से झलक जाती है।

2.17 ऐसी ही भावना बैंक क्षेत्र को लेकर भी छाई हुई है। सरकारी बैंकों में सरकार की हिस्सेदारी घटाने पर सारी चर्चा यहीं आकर अवरूद्ध हो जाती है कि ये बैंक तो सरकार द्वारा संसाधन आवंटन और उनके प्रवाह के दिग्वर्तन के विधिसंगत उपस्कर हैं।

2.18 यदि उर्वरक उद्योग को देखें तो वह अनेक विकृतियों से भरा दिखाई देता है, किन्तु सार्वजनिक नीतियां बुरी तरह से दक्षताहीन सार्वजनिक उपक्रमों को बंद करने नहीं बल्कि उनके पुनर्वास और पुनः प्रतिष्ठापन से आगे नहीं सोच पाती।

2.19 निजी क्षेत्र के प्रति यह उभयभाविता केवल निजीकरण के आड़े नहीं आती- इसके और भी अनेक स्वरूपों में दर्शन होते हैं। कृषि क्षेत्रक अभी भी "समाजवादी युग" में गढ़े गए नियम विनियमों का एक ज्वलंत उदाहरण है। यद्यपि पिछले दो वर्षों में कुछ बदलाव आए हैं किन्तु कृषि उत्पाद विपणन अधिनियम अभी भी अधिकांश उत्पादकों को "विनियमित" मंडियों

में निर्दिष्ट मध्यस्थों (बिचोलियों) को ही अपना उत्पादन बेचने को विवश कर रहा है। किन्तु जब यही सरकार विरचित विपणन प्रणाली कीमतों में "अतिशय वृद्धि" का सृजन करने लगती है तो आवश्यक वस्तु अधिनियम का सहारा लेकर ऐसे व्यवसाय पर स्टॉक की सीमाएं लागू करने के प्रयास आरंभ हो जाते हैं जो अंतर्निहित रूप से चक्रीय उतार-चढ़ाव से ग्रस्त होता ही है। ये नीति-प्रयास इस प्रकार कृषि क्षेत्र की विपणन समस्याओं को सुलझाने के स्थान पर उन्हें और अधिक गंभीर बना देता है।⁵

2.20 इसी प्रकार की एक पुरानी जंजीर संपदा अधिकारों के लिए भी फंदा बनी हुई है। प्रारंभ में संविधान ने संपदाधिकार को एक मौलिक अधिकार की मान्यता प्रदान की थी। किन्तु समाजवादी युग के 44वें संविधान संशोधन ने धारा 19(1)(f) तथा धारा 31 को हटाकर उनके स्थान पर धारा 300-A को स्थापित कर दिया और संपदाधिकार का दर्जा कम होकर केवल एक "कानूनी अधिकार" रह गया। इस निर्णय की अनुगूँज आज भी पिछली किसी भी तिथि से नए कर लगाने जैसे मुद्दों में सुनाई दे जाती है। सरकार ने करों और ऐसे अन्य मुद्दों पर पूर्ववर्ती तिथियों से कुछ भी लागू नहीं करने का अपना संकल्प दोहराया है। किन्तु इस प्रकार लगाए गए कर अभी भी कानूनी दांवपेचों के झमेलों में उलझे हैं और इनका समाधान निकट भविष्य में होता नहीं दीखता। प्रतीत होता है कि व्यापक रूप से स्वीकार्य एवं न्यायिक स्तर पर अनुमोदित जब्तिकरण और पूर्ववर्ती तिथि से नई व्यवस्था लागू करने के विरुद्ध सिद्धांत को लागू करने में भी यही 'हिचक' आ जाती है कि कहीं यह कदम राजनीतिक दृष्टि से निजी, विशेषकर विदेशी निजी उद्यमों, के प्रति पक्षपात तो नहीं मान लिया जाएगा। वोडाफोन और मोनसेंटो जैसे अनेक मामलों में यही बात उभर कर आयी है।

2.21 ये 'सावधानी' या आशंका केवल विदेशी निजी उद्यमों तक सीमित नहीं है। निगम एवं बैंक क्षेत्रों में दोहरी तुलनपत्र रचना की समस्या आज भी अर्थव्यवस्था के गले में पत्थर की तरह लटक रही है- परिणाम है निजी निवेश पर छा रहा धुंधलका- वह सकल स्तर पर

⁵ देखें, दालों के उत्पादन को प्रोत्साहन देने संबंधी सुब्रमणियन समिति रिपोर्ट (2016)

संवृद्धि को भी अपनी छाया में समेट रहा है। वर्ष 2010 में उभर कर आई इस समस्या के समाधान में बाधक हो रहा एक कारण यही है कि कहीं सरकार को निजी उद्यमों का पक्षधर तो नहीं मान लिया जाएगा। यह समस्या बार-बार उन मामलों में अवश्य उठती रहेगी जहां निजी क्षेत्र के कुछ कर्ज या देयताएं माफ करने की बात उठ रही हो।

2.22 इन सभी उदाहरणों के पीछे कोई न कोई वैध कारण हो सकता है। किन्तु ये सब मिलकर एक बहुत ही सुस्पष्ट परिदृश्य को अंकित भी कर रहे हैं।

(ख) सरकार की क्षमता

2.23 भारतीय आर्थिक प्रतिमान की दूसरी बड़ी विशेषता सरकार की क्षमताओं में विद्यमान दुर्बलता है- स्वास्थ्य एवं शिक्षा जैसी आवश्यक सेवाओं की आपूर्ति कर पाने में यह “अक्षमता” बहुत ही अधिक गंभीर दिखाई देती है (मंगला, 2015, डीटन, 2013)। यह सच है कि स्वतंत्रता के समय सभी उदीप्यमान अर्थव्यवस्थाओं ने अपनी विकास यात्रा दुर्बल राजकीय क्षमताओं के साथ ही प्रारंभ की थी। किन्तु अर्थव्यवस्था के विकास और समृद्धि के साथ-साथ सरकार की क्षमता में भी सुधार हुआ। प्रायः यह सुधार शेष अर्थव्यवस्था से कहीं अधिक तीव्र दर से भी हुआ है। किन्तु इनके विपरीत भारत में ऐसा नहीं हो पाया। फुकुयामा (2013) का तर्क है कि भारतीय सरकार की क्षमता निम्न है और साथ ही इसमें भ्रष्टाचार, प्रश्रयवाद, नियमों और लालफीताशाही का भी बोलबाला है।

2.24 फिर भी एक पहेली बहुत अबूझ बनी हुई है : निवेश और योग्यता प्रतिभा को आकर्षित करने में तो संघीय-स्पर्धाशीलता एक बहुत सशक्त परिवर्तनकारी शक्ति के रूप में उभर कर आई है (सबसे बड़ा उदाहरण तो टाटा नैनो कार का ही है), किन्तु आवश्यक सेवाओं की आपूर्ति सुधारने में भारत के राज्यों में कोई प्रतियोगिता नहीं दिखाई पड़ रही। कुछ अपवाद अवश्य है : छत्तीसगढ़ और बिहार में सार्वजनिक वितरण प्रणाली में सुधार, मध्य प्रदेश में कृषि क्षेत्र में संप्रेरणों का संचार, हरियाणा में घासलेट मुक्ति अभियान, गुजरात में विद्युत क्षेत्र के सुधार, जिनसे आपूर्ति व्यवस्था बेहतर हुई है, और लागत उगाही में बढ़ोतरी आई है तथा तमिलनाडू में सामाजिक कार्यों की दक्षता। किन्तु स्वास्थ्य और विशेषकर शिक्षा

के विषय में बहुत ही कम अच्छे प्रतिमान विकसित हो पाए हैं, जिन्हें आकर्षक राजनीतिक सुयोग माना जा सके और देश भर में जिनका अनुकरण हो सके। इन सबके विपरीत विभिन्न राज्यों में लोकलुभावन स्पर्धा अवश्य चल रही है- जिन कुछ चीजों/सेवाओं को मुफ्त में नहीं दिया जाना चाहिए उन्हीं की बंदरबांट हो रही है। आवश्यक सेवाओं की आपूर्ति में तो ऐसी स्पर्धा के कोई संकेत नहीं मिल रहे।

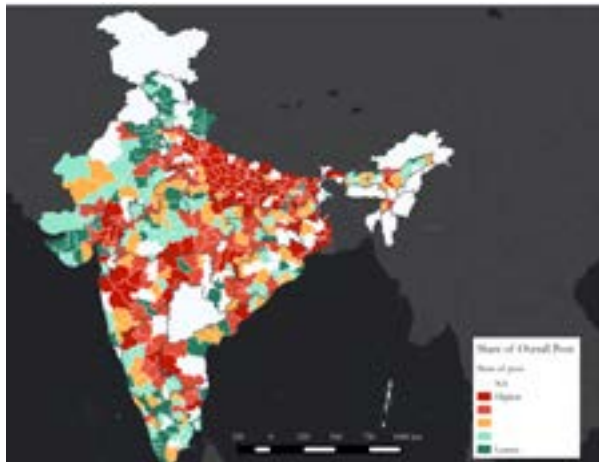
2.25 सरकार की अक्षमता ने सेवाएं सुलभ कराने में विफलता के साथ-साथ एक अन्य समस्या को भी जन्म दिया है। कुछ मामलों में नीतितंत्र इतनी बुरी तरह से संरोधग्रस्त हो गया है कि कुछ समुदायों के हितों की ओर ध्यान ही नहीं जाता। इसके दोहरे परिणाम हुए हैं।

2.26 एक तो अब सभी सार्वजनिक परिसंपत्तियों को नीलामी द्वारा ही आवंटित किया जा रहा है- इसका एक अभीष्टपूर्ण सार्वजनिक नीति सिद्ध होना अनिवार्य नहीं है। दूरसंचार के संदर्भ में तो न्यायपालिका ने पारदर्शिता और नीलामी की अनिवार्यता लागू कर दी। यह पिछले भ्रष्टाचार के अनुभवों को लेकर एक महत्वपूर्ण और उचित हस्तक्षेप था। किन्तु इसने कुछ सार्वजनिक नीति स्तरीय असमंजस भी पैदा कर दिया है। दूरसंचार सेवाओं के व्यापक प्रसार से बहुत विशाल बाह्यताओं का सृजन संभव है। अतः कुछ मामलों में स्पैक्ट्रम को नीलामी निर्धारित लागत से कम दामों पर आवंटित करना सामाजिक अभीष्टों की दृष्टि से अधिक उपयुक्त हो सकता है। किन्तु, नीलामी के अतिरिक्त कोई अन्य विधि, जहां आवंटनकर्ता स्वविवेक का प्रयोग करता हो, को लेकर सहज अविश्वास और उसमें संभावित पक्षपात की आशंकाएं भी उठ सकती हैं।

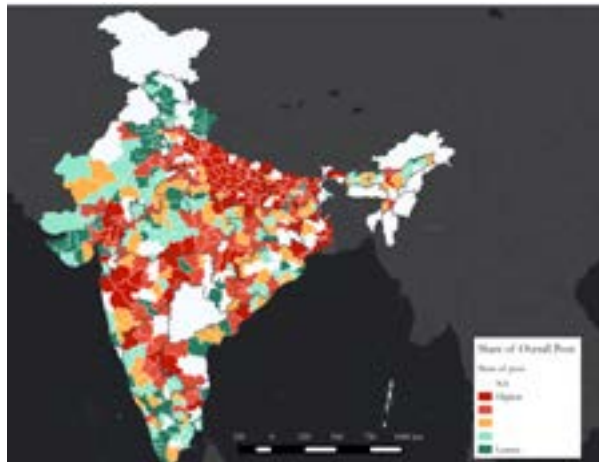
2.27 दूसरे, नौकरशाही के स्तर पर निर्णय प्रक्रिया में अति-सतर्क रहने की प्रवृत्ति बन गई है- यह ‘यथास्थिति’ का ही पोषण करती है। ऊपर चर्चित दोहरी तुलनपत्र परंपरा को ही लें: सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों के उच्च अधिकारी केवल इसलिए कुछ ऋणों की उगाही संभव नहीं होने पर भी खातों से हटाने के लिए तैयार नहीं होते कि उन्हें किसी कंपनी के पक्षपाती मान लिया जाएगा। और वह स्वयं “4 Cs” नामक संस्थागत निर्णायकों के निशाने पर आ जाएंगे : कचहरी, केन्द्रीय सतर्कता आयोग, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो और नियंत्रक एवं महालेखपाल

रेखाचित्र 7 : अप-आवंटन - सभी योजनाओं पर व्यय/आवंटित धन में गरीब जनपदों का निम्न अंश

7(क) : गरीबों का कुल अंश



7(ख) : गरीबों को आवंटन में त्रुटि



स्रोत: एनएसएस 2011-12, भारत सरकार, समीक्षा परिकलन

(Court, CVC, CBC और CAG)। इससे ऋणों को “सदैव हरित” या ‘पुनर्नवित’ रखने को बढ़ावा मिलता है और समस्या के समाधान को स्थगित कर दिया जाता है।

(ग) दक्षताहीन पुनःवितरण

2.28 भारतीय विकास प्रतिमान की यह तीसरी विशिष्टता है। सभी देशों में कुछ न कुछ पुनःवितरण होता है, होना भी चाहिए। प्रश्न यही है कि यह कितना प्रभावोत्पादक रहता है और कितना होना चाहिए।

2.29 गरीबों तक पहुँचने के लक्ष्य की दृष्टि से सरकार द्वारा किया जा रहा पुनःवितरण दक्षता से बहुत दूर रह जाता है। गरीब समाज के सहायतार्थ चल रहे वर्तमान कार्यक्रमों की प्रभावोत्पादकता की समीक्षा अध्याय-9 में होगी। ये कार्यक्रम सब्सिडी आधारित हैं और महात्मा गांधी ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना, सर्व शिक्षा अभियान, एकीकृत बाल विकास योजना आदि इनमें प्रमुख प्रकल्प माने जाते हैं। उस समीक्षा से स्पष्ट हो रहा है कि क्षेत्र कार्यों पर व्यय में बहुत अधिक अप-आवंटन हो रहा है: रेखाचित्र-7 के दो चित्र दिखा रहे हैं कि सबसे अधिक गरीब अनुपात वाले जनपदों (रेखाचित्र 7(क) में लाल रंग से रजित) में ही धनाभाव अधिकतम है। इससे सबसे पहले तो ‘बहिष्कृति की त्रुटि’ पैदा होती है : गैर-गरीब वर्ग हितलाभों का एक बड़ा हिस्सा हस्तगत कर जाता है। साथ ही इस व्यवस्था में भ्रष्टाचार और दक्षताहीनता के कारण भी हितलाभों का एक अंश क्षरित हो जाता है।

2.30 पिछले दो वर्षों में सरकार ने सब्सिडी घटाने की दिशा में बड़े प्रयास किए हैं- पेट्रोलियम उत्पादों के विषय में ये कदम विशेष उल्लेखनीय रहे हैं। हमारे अध्याय-1 ने स्पष्ट किया है कि चार में से दो उत्पादों पर सब्सिडी पूरी तरह निरस्त हो चुकी है और वस्तुतः एक कार्बन उत्सर्जन कर प्रभावी हो गया है, उसकी दर भी विश्व भर में उच्चतम है।

2.31 किन्तु सब्सिडी निरस्त कार्य में भी प्रौद्योगिकी की क्षरण रोकने में बड़ी भूमिका रही है (इस संदर्भ में उर्वरक के हितलाभ का सीधे कृषक को अन्तरण का प्रारंभिक प्रयोग बहुत ही निर्णायक रहा है) अतः उपभोक्ता द्वारा चुकाई जा रही कीमतें अपरिवर्तित ही रही है।

2.32 पुनःवितरण का सटीक उपस्कर नहीं माना जा सकने वाले वस्तु एवं सेवा कर की रचना भी अंतर्निहित तनाव-टकराव स्पष्ट कर रही है। इस जीएसटी के संदर्भ में राज्यों की ओर से दरों को निम्न रखने और इसकी रचना को सरल रखने के राजनीतिक दबाव (ताकि जीएसटी व्यवस्था दक्ष एवं प्रभावोत्पादक बन सके) तो बहुत कम रहे हैं। हां एक बात पर आग्रह अवश्य दिखाई दिया है कि इस कर प्रणाली की भावी दर संरचना भी वर्तमान जटिल यथास्थिति का ही अनुकरण करती रहे। अधिकांश ध्यान इस बात पर भी केंद्रित रहा है कि आवश्यक वस्तुओं पर कर की दरें कम रहें तथा विलासिता पदार्थों पर अधिक हों। इस विचार से दक्षता एवं सरलता पर पड़ने वाले प्रभावों की लगभग पूरी अनेदखी हो गई है।

केंद्र ने प्रांतीय सरकारों को क्षतिपूर्ति की गारंटी दी थी। इसके बाद भी इस प्रकार के आग्रह नहीं होना विचित्र लगता है। स्पष्टतः कर की दरों को निम्न रखते हुए भी राजस्व में कमी नहीं होने का स्वप्न-प्रायः विचार भी राजनीतिक दृष्टि से आकर्षक नहीं माना गया।

III. संभव व्याख्या

2.33 भारतीय विकास प्रतिमान की इन तीन विलक्षण विशेषताओं की व्याख्या कौन से कारक कर पाएंगे? भारत के आर्थिक परिदृश्य को समझ पाने का एक ही मार्ग है : इस देश ने आर्थिक सफलता के लिए जिस पथ का चयन किया है उसे **विलक्षण विचार-भेद ग्रस्तता** का नाम दिया जा सकता है।

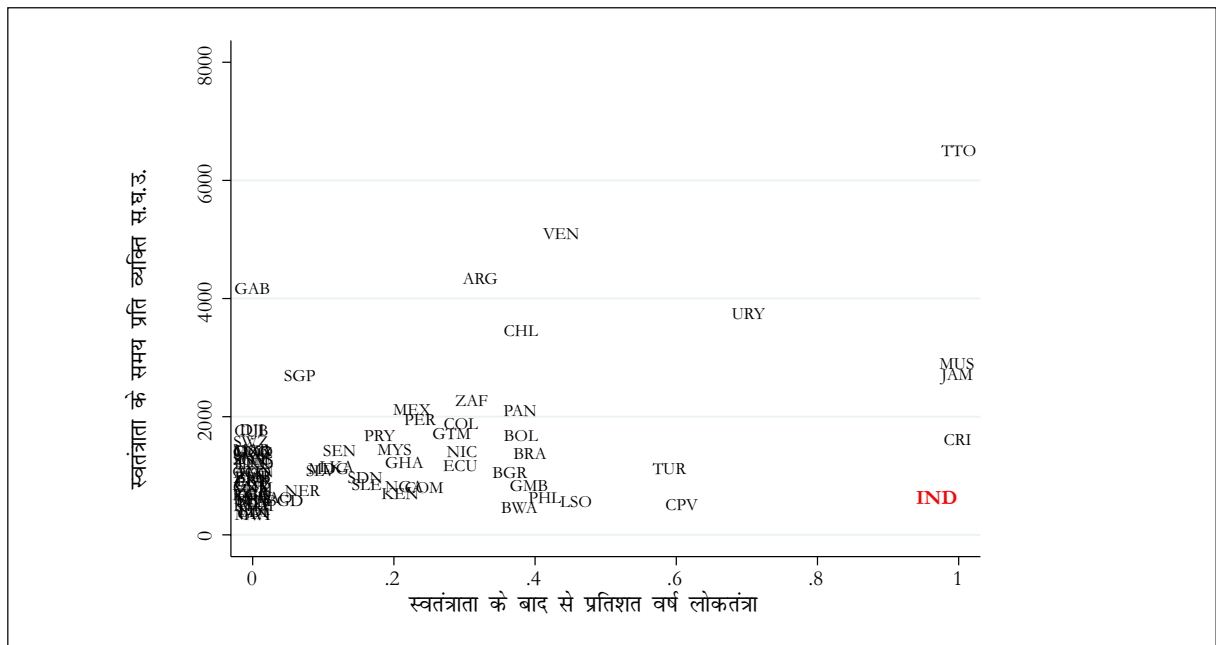
2.34 ऐतिहासिक दृष्टि से आर्थिक सफलता दो में से एक राह पर चलकर प्राप्त हुई है। आज के विकसित देशों ने अपने वर्तमान स्तर को पाने में दो शतियों तक धीमे आर्थिक राजनीतिक विकास के पथ पर निरंतर यात्रा की है। उन्होंने अपनी यात्रा का आरंभ व्यापक मताधिकार से नहीं किया था। ये मताधिकार शुरू में बहुत संकीर्ण एवं सीमित थे, धीरे-धीरे इनका विस्तार हुआ, इसने भी सीमित क्षमताओं वाली शासन व्यवस्था पर बहुत अधिक

अपेक्षाओं के बोझ को आरोपित नहीं किया। इसी कारण से इन देशों में आर्थिक एवं राजकोषीय विकास की प्रक्रिया में बहुत सहायता मिली थी (एस मोगलू एवं रोबिन्सन, 2013; नॉर्थ एवं वीनगास्ट, 1989; सेंट-पॉल एवं वर्डीअर, 1993)।⁶

2.35 तीव्र आर्थिक प्रगति का दूसरा सफल समूह पूर्वी एशिया के चीन, कोरिया की प्रत्यक्ष निरंकुश व्यवस्था या फिर सिंगापुर, थाईलैंड, ताईवान की व्यावहारिक रूप से निरंकुशता का रहा है। इन देशों में कुछ थोड़ी बहुत राजनीतिक उदारता का संचार आर्थिक सफलता के किसी अच्छे स्तर की प्राप्ति के बाद ही दिखाई दिया है। प्रत्यक्ष निरंकुशता के तीन स्वरूप रहे हैं : सैन्य (कोरिया); शासक दल (चीन); और वैयक्तिक तानाशाही (इंडोनेशिया)।

2.36 किन्तु इन सबके विपरीत भारत ने प्रारंभ से ही व्यापक मताधिकार के साथ आर्थिक विकास पथ पर चलने का निर्णय लिया है। रेखाचित्र-8 में क्षैतिज अक्ष पर स्वतंत्रता के बाद से प्रतिशत अनुपात है और Y-अक्ष पर स्वतंत्रता के समय आय का स्तर दिखाया गया है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि भारत का अनुभव

रेखाचित्र 8 : मतभेद ग्रस्त लोकतंत्र



⁶ उदाहरण : उपरिसंरचना की वित्तव्यवस्था हेतु संपत्तिकर लगाना संभव रहा- इसके परिणाम स्वरूप उच्च भूमि मूल्यों का लाभ सीमित कर दाता वर्ग एवं मतदाताओं को जो मिल रहा था।

विलक्षण है। भारत उन इनेगिने देशों में से एक है जहां लोकतंत्र निरंतर बना रहा है। चित्र के दाहिने छोर पर अवस्थित अन्य देश हैं बोट्सवाना, मारीशस, जमैका, त्रिनिदाद एवं टोबागो तथा कोस्टारिका।

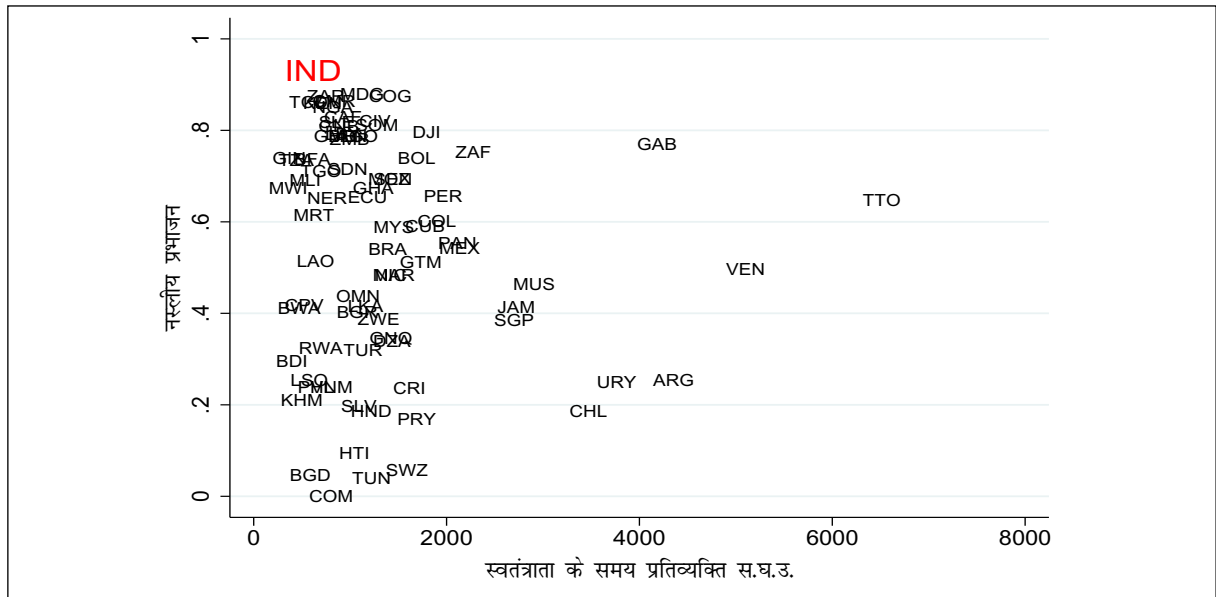
2.37 यही नहीं, एक और भी विलक्षणता रही है। स्वतंत्रता के समय भारत एक अत्यंत गरीब लोकतंत्र था।⁷ इस चित्र में भारत लगभग सबसे नीचे दिखाई दे रहा है अर्थात् यह एक गरीबतम लोकतंत्र था। वस्तुतः एक गरीबतम देश भी था। 1990 में क्रयशक्ति तुल्यता पर आधारित प्रतिव्यक्ति जीडीपी का स्तर मात्र \$617 था। यह सभी प्रकार के शासनतंत्र के अंतर्गत रहे सभी देशों में निम्नतम ही था (देखें मैडीसन)।

2.38 उसी समय भारत में अत्यंत ही वैचारिक भिन्नता से ग्रस्त समाज भी था। इतिहासकारों ने बताया है कि यहां अन्य देशों की अपेक्षा, अनेक विभाजक अक्ष-तंत्र विद्यमान थे : भाषाएं, लिपियां, धर्म-संप्रदाय, क्षेत्र-जातियां, लिंग

एवं वर्ग (गुहा, 2016)। केवल प्रजाति-भाषाई विभाजकों के अनुसार तो भारत अन्य देशों के समान प्रायः ही है (इस्टरली एवं लेविन, 1997)⁸। किन्तु यदि यहीं पर जाति का भी हिसाब लगाया जाए तो भारत सबसे अलग दिखाई देता है (बैनर्जी एवं सोमनाथ, 2007)। रेखाचित्र-9 में अंकित बिन्दु समूह के उत्तर पश्चिमी कोण में अवस्थित भारत एक “बहिष्वायी” प्रतीत होता है- यह अति उच्च गरीबी एवं गहनतम सामाजिक विभाजनों की युति का परिचायक है।

2.39 एक विलक्षण वैचारिक विभाजन ग्रस्त लोकतंत्र, (जो गरीबी से ही अपनी यात्रा का प्रारंभ कर रहा हो) में निजी क्षेत्र के प्रति अविश्वास होना निश्चित प्रायः होता है। इसी धारणा को उस समय बौद्धिक स्तर पर व्याप्त समाजवाद ने और बल प्रदान किया था। भारत के संस्थापक देश का निर्माण करते समय उन उद्योगों का विकास भी करना चाहते थे जो देश को राजनीतिक के साथ-साथ आर्थिक स्तर भी स्वतंत्र बना सके। किन्तु

रेखाचित्र 9 : विलक्षण वैचारिक मतभेदग्रस्त भारत



स्रोत: बैनर्जी एण्ड सोमनाथन, 2007/समीक्षा परिकलन

⁷ बसु (2016) ने एक गरीब लोकतंत्र होने से पैदा होने वाली कठिनाइयों-आपदाओं को इस प्रकार चित्रण किया है: अधिकांश विकासशील देशों को लोकतंत्र नहीं होने के कारण वे समस्याएं नहीं झेलनी पड़ीं, जिनका भारत ने सामना किया है। एक बार जनमत में कोई बात रूढ़ हो गई (नेहरू ने इस जनमत को स्वरूप दिया था) तो फिर कोई नीति आम जनता पर थोपी नहीं जा सकती। बड़े नीतिगत बदलाव से पूर्व जनमत में बदलाव लाना आवश्यक हो जाएगा। कम से कम नीति निर्माता को आम जनता की उस समय तक “सहमति” की प्रतिक्षा करनी होगी जब वह (जनता) स्वयं वर्तमान स्थिति को लेकर असमंजस में फंसी हो।

⁸ प्रजाती-भाषाई विभाजकों का अर्थ है कि यादृच्छिक रूप से चुने गए किसी युग की एक समान सामाजिक पहचान की प्रायिकता शून्य प्रायः होगी। यह पहचान धर्म, भाषा या प्रजाति पर आधारित हो सकती है।

निजी क्षेत्र उपनिवेशी शासन व्यवस्था के अंतर्गत यह कार्य कर पाने में पूरी तरह विफल रहा था। यही परिदृश्य सभी नव-स्वतंत्र देशों में दिखाई दे रहा था। अतः निजी क्षेत्र की आर्थिक स्वतंत्रता की प्राप्ति की क्षमता को लेकर गंभीर संदेह के सशक्त आधार विद्यमान थे। इनके विपरीत कुछ ही दशकों में स्वयं को एक कृषिक देश से औद्योगिक शक्ति के रूप में ढाल चुके सोवियत संघ का उदाहरण सुझा रहा था कि यदि शासनतंत्र अर्थव्यवस्था के शिखर पर स्थित हो संसाधनों का अधिक वरीयता वाले क्षेत्रों में प्रवाह निदेशन करे तो तीव्र विकास सचमुच संभव हो सकता है।

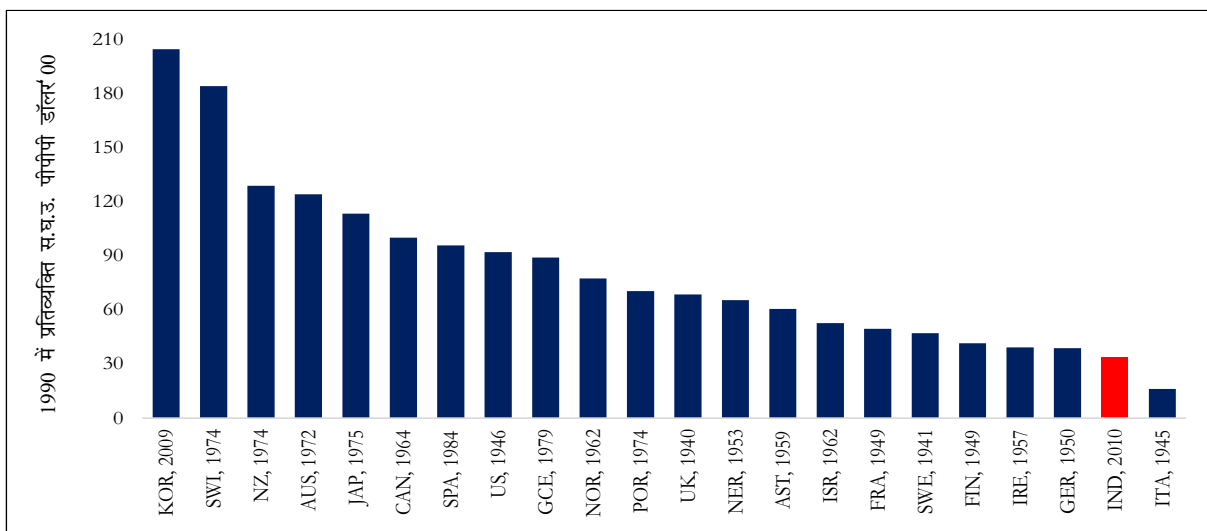
2.40 हां यह भी सत्य है कि भारत ने नियोजन अपनाया और सरकारी क्षेत्र को एक बड़ी भूमिका भी सौंपी किन्तु सोवियत रूस की तरह निजी क्षेत्र का पूर्ण निर्मूलन नहीं किया। इसने निजी उद्यमों पर लाइसेंस-परमिट व्यवस्था के माध्यम से नियंत्रण रखने का प्रयास किया। विडंबना ही थी कि इसने निजी क्षेत्र को और अधिक बदनामी ही प्रदान की : सरकार ने जितने अधिक नियंत्रण लगाए, उतनी ही प्रबल जनभावना बनती गई कि ये निजी उद्यमी केवल सरकारी नियंत्रणों के सहारे फलफूल रहे थे- इस प्रकार वे जन आक्रोश के ही भागी बन रहे थे।

2.41 विलक्षण वैचारिक भेद ग्रस्तता का एक अन्य महत्वपूर्ण परिणाम भी रहा; भारत को विकास क्रम के प्रारंभिक स्तर से ही पुनःवितरण पर भी ध्यान देना पड़ा,

जबकि उस समय इसके शासनतंत्र की क्षमताएं बहुत ही सीमित थीं। रेखाचित्र-10 दर्शा रहा है कि तुलनात्मक दृष्टि से उस समय भारत के शासनतंत्र की क्षमताएं कितनी दुर्बल थीं। यह चित्र विभिन्न देशों के आय स्तरों और जीडीपी के उन अंशों की तुलना कर रहा है जो भारत आज पुनःवितरण पर खर्च कर रहा है। प्रायः इस प्रकार के व्यय विकास प्रक्रिया के काफी उन्नत स्तर पर पाए जाते हैं- उस समय तक देश का शासनतंत्र भी पर्याप्त क्षमता अर्जित कर चुका होता है। उदाहरण के लिए दक्षिण कोरिया अपनी प्रतिव्यक्ति जीडीपी के लगभग \$20000 के स्तर पर जितना व्यय कर रहा था उतना ही भारत मात्र \$5000 के स्तर पर कर रहा है। और अंततः, पुनर्वितरण का तकाजा देश के नीति निर्माण पर इस प्रकार छा गया कि भारत मानवीय पूंजी के निर्माण में पर्याप्त निवेश नहीं कर पाया। उदाहरण के लिए स्वास्थ्य पर 1950-51 में सरकारी व्यय जीडीपी का मात्र 0.22 प्रतिशत था (स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, 2005)। यह आज बढ़कर एक प्रतिशत से कुछ अधिक हो गया है किन्तु विश्व औसत तो 5.99 प्रतिशत है (विश्व बैंक, 2014)।

2.42 निम्न राजकीय क्षमता वाले गरीब देश (भारत जैसे) को जब पुनःवितरण करने को विवश होना पड़ता है तो वह निश्चित रूप से अनगढ़ और छीजन भरे उपायों का प्रयोग कर दक्षताहीन पुनःवितरण ही कर पाता है। वर्ष 1950 में प्रभावी रूप से लक्षित कार्यक्रम बना पाने

रेखाचित्र 10 : पुनःवितरण की बहुत पहले शुरूआत



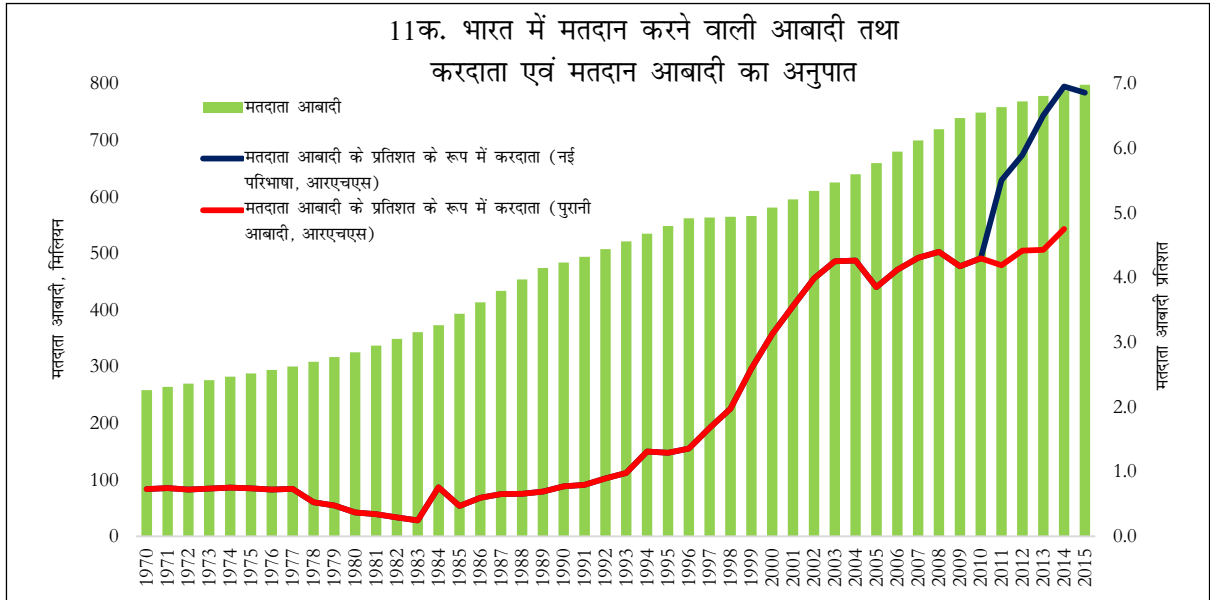
स्रोत: समीक्षा की गणनाएं

की “विलासिता” कहां सुलभ थी? वस्तुतः 1960 या फिर 1970 में भी यह संभव नहीं था।

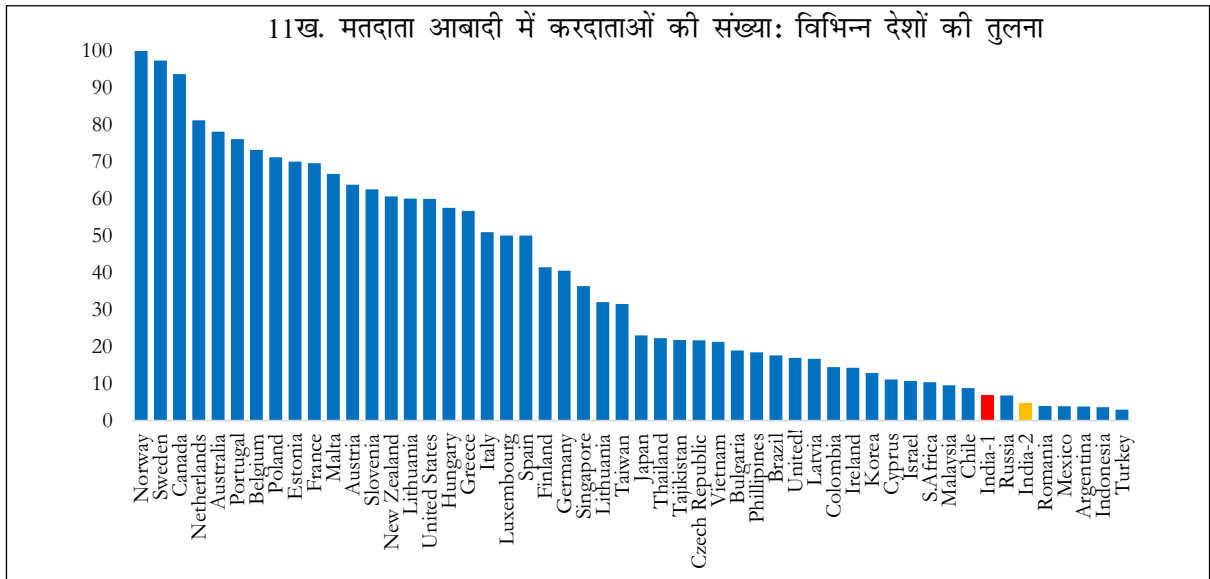
2.43 उपर्युक्त विवरण यही समझा देता है कि इस प्रकार के नीतिगत हस्तक्षेप क्यों प्रारंभ हो गए? किन्तु यह अब भी स्पष्ट नहीं हो पाता कि इन दशताहीन पुनःवितरण प्रयासों से हम आज भी क्यों चिपके हुए हैं—आखिर अन्य सभी देश तो अपेक्षाकृत कम दशताहीन

पुनःवितरण विधियां अपना चुके हैं। इसकी एक आंशिक व्याख्या तो एक बार अपना ली गई दशताहीन प्रणाली को त्याग नहीं पाने की विवशता हो सकती है। यह समस्या प्रायः हर देश में दिखाई दे जाती है, किन्तु एक ऐसे गरीब देश में यह अधिक गंभीर होती है, जहां विचार-भेदग्रस्त लोकतंत्र हो और उस पर निहित स्वार्थ, अक्षम संस्थानों और ऐसी विचारधारा का वर्चस्व हो जो

रेखाचित्र 11 : भारत का न्यून कर आधार⁹



स्रोत: पिकेटी, चुनाव आयोग, राजस्व विभाग



स्रोत: आर्थिक समीक्षा, 2015-16

⁹ नई परिभाषा : करदाता + कर कटौती किन्तु विवरणी नहीं। पुरानी परिभाषा : विवरणी भरने वाले ही।

निवेश से अधिक महत्व पुनःवितरण को प्रदान करती हो (इस पर 2015-16 के समीक्षा खंड-2 के अध्याय 2 में विस्तार से चर्चा की गई थी)।

2.44 इस विवरण से एक और रोगाभिज्ञान उभर कर आता है। यूरोप और संयुक्त राज्य का इतिहास सुझाता है कि वहां शासनतंत्र ने पुनः वितरण की भूमिका स्वीकार करने से पहले भौतिक सुरक्षा, स्वास्थ्य, शिक्षा और उपरि पूंजी संरचना जैसी आवश्यक सेवाओं की आपूर्ति पर ही ध्यान दिया था। यह क्रम किसी दुर्घटना का परिणाम नहीं है। जब तक समाज के मध्यमवर्ग को यह विश्वास नहीं हो जाता कि सरकार के कार्यों से उसे कुछ लाभ प्राप्त होता है, वह पुनःवितरण का वितीयन करने को तैयार नहीं होता। दूसरे शब्दों में पुनः वितरण करने की वैधानिकता का अर्जन प्रभावी रूप से आवश्यक सेवाओं की आपूर्ति कर पाने में सफलता की सिद्धि में ही निहित है।

2.45 इसकी एक गंभीर उपपत्ति भी है। यदि सरकार की भूमिका मुख्यतः पुनःवितरण हो जाती है तो मध्यम वर्ग उस शासनतंत्र से ही विरत हो जाता है-प्रौ. अलबर्ट हर्षमैन के शब्दों में- मध्यम वर्ग ऐसे शासनतंत्र से बहिरगमन करने लगता है। अतः एक वैचारिक भेद ग्रस्त समाज की तो इस रोगाभिज्ञान से ग्रस्त हो जाने की पूर्व रचित नियति ही है। इस बहिरगमन का एक चिन्ह करदाता संख्या में कमी है। यह बात भारत में बहुत ही स्पष्ट दिखाई दे रही है। रेखाचित्र-11 अन्य देशों की तुलना में करदाता और मतदाता जनसंख्या का अनुपात दिखा रहा है। भाग 11(क) यह दिखा रहा है कि भारत में इस अनुपात की वृद्धि कितनी धीमी रही है।

2.46 सरकार पर दबाव घटाते हुए शासनतंत्र से मध्यम वर्ग का बहिर्गमन उसे और कमजोर बना देगा, इसकी विधिसंगति और क्षीण हो जाएगी-परिणाम स्वरूप बहिर्गमन की गति में और वृद्धि होगी। दक्षताहीन पुनःवितरण को विवश की गई सरकार दक्षताहीन वितरण, निम्न विधि-संगति, कम संसाधन, निम्न मानवीय पूंजी निवेश, निम्न क्षमता आदि के पाश में फंस कर रह जाती है।

III. निष्कर्ष

2.47 भारत आर्थिक निष्पादन और सुधार के पथ पर बहुत लंबी यात्रा कर चुका है। किन्तु गत्यात्मकता और सामाजिक न्याय की प्राप्ति का बहुत लम्बा मार्ग अभी तय करना बाकी है। एक अनुमानिक निष्कर्ष तो यही है कि इस यात्रा को पूर्ण करने के लिए आर्थिक दृष्टि को लेकर समूचे राजनीतिक पटल पर एक अधिक सहमति का निर्माण करना होगा।

2.48 अभी तक विमुद्रीकरण का अनुभव कुछ सीख दे रहा है। एक स्वरूप में एक पुनः वितरण उपाय है जो सरकार के मध्यम से धनिक वर्ग की गैर कानूनी रूप से संकलित संपदा को निर्धन वर्ग के बीच बांटने वाला एक कदम माना जा रहा है। निश्चित रूप से अल्पकाल में तो इस कदम की लागत मुख्यतः अनौपचारिक/नकद सघन क्षेत्र में कार्य कर रहे वह वर्ग चुका रहे हैं जो धनिक नहीं माने जा सकते। इस दृष्टि से इसे भी दक्षताहीन पुनःवितरण माना जा सकता है। अतः जहां सहाय्य गरीबों की ओर पुनःवितरण का अदक्ष माध्यम थे वहीं विमुद्रीकरण को अमीरों से दूर पुनःवितरण का अदक्ष कदम कहा जा सकता है।

2.49 किन्तु फिर भी अभी तक तो, विमुद्रीकरण को व्यापक जन समर्थन मिला है, विशेषकर उन वर्गों से जिन्होंने इसकी अधिकतर अल्पकालिक लागत का भी वहन किया है।¹⁰ विमुद्रीकरण की अनुगूँज यह दर्शा रही है कि आर्थिक पटल समतल नहीं है यहां चल रहे क्रम में कुछ लोग (धनिक) इस प्रकार व्यवस्था का लाभ उठा जाते हैं जिसे जन सामान्य अनुचित और गैर कानूनी मानता है।

2.50 यहां दक्षताहीन पुनःवितरण और निजी क्षेत्र की विधि संगति तथा शासनतंत्र को लेकर कुछ सीखें भरी हैं और ये सीखें भारत की विकास यात्रा के अगले सोपान में बहुत निर्णायक सिद्ध होंगी। एक सीख तो यही है कि आगे सुधार केवल उन निहित स्वार्थों पर पार पाना मात्र नहीं होंगे जो उन सुधारों को बाधित करते हैं। आधारभूत विचारों एवं जीवन दृष्टि के पटल पर अधिक व्यापक सामाजिक सहमति का निर्माण अधिक निर्णायक सुधार

¹⁰ पांच राज्यों में फोन पर किए गए एक नवीन सर्वेक्षण ने इस कदम की जन स्वीकार्यता को 75 प्रतिशत से अधिक आंका है।

सिद्ध होगा।

2.51 विचार ही शासन करते हैं।

संदर्भ

- 1 Acemoglu, Daron, and James A. Robinson. "Economics versus politics: Pitfalls of policy advice." *The Journal of Economic Perspectives* 27.2 (2013): 173-192.
- 2 Banerjee, Abhijit, and Rohini Somanathan. "The political economy of public goods: Some evidence from India." *Journal of Development Economics* 82.2 (2007): 287-314.
- 3 Basu, Kaushik. "Economic Development, Importance of Institutions in and Social Aspects of.", *Encyclopedia of India*, Thomson Gale.
- 4 Bhagwati, Jagdish, and Arvind Panagariya. *Why growth matters: How economic growth in India reduced poverty and the lessons for other Developing countries*. Public Affairs, 2013.
- 5 Deaton, Angus. *The great escape: health, wealth, and the origins of inequality*. Princeton University Press, 2013.
- 6 Easterly, William, and Ross Levine. "Africa's growth tragedy: policies and ethnic divisions." *The Quarterly Journal of Economics* (1997): 1203-1250.
- 7 Fukuyama, Francis. "What is governance?." *Governance* 26.3 (2013): 347-368.
- 8 Guha, Ramachandra. "Democrats and Dissenters.", Penguin Random House India Private Limited, 2016.
- 9 Hirschman, Albert. O. "Exit, Voice and State.", *World Politics* Vol 31, No. 1 (1978): 90-107.
- 10 Kochhar, Kalpana, et al. "India's Pattern of Development: What happened, What Follows?." *Journal of Monetary Economics* 53.5 (2006): 981-1019.
- 11 Kohli, Atul. "State and redistributive development in India." *Growth, Inequality and Social Development in India*. Palgrave Macmillan UK, 2012. 194-226.
- 12 Mangla, Akshay. "Bureaucratic Norms and State Capacity in India." *Asian Survey* 55.5 (2015): 882-908.
- 13 North, Douglass C., and Barry R. Weingast. "Constitutions and commitment: the evolution of institutions governing public choice in seventeenth-century England." *The journal of Economic History* 49.04 (1989): 803-832.
- 14 Parussini, Gabriele. "India's Central Bank cuts interest rates", *Wall Street Journal* (2016).
- 15 Pritchett, Lant. "Is India a Flailing State? Detours on the Four Lane Highway to Modernization." (2009), mimeo.
- 16 Rice, Susan and Patrick, Steward. "Index of State Weakness in the Developing World", *Brooking Foreign Policy*.
- 17 Rodrik, Dani, and Arvind Subramanian. "From 'Hindu Growth' to Productivity Surge: The Mystery of the Indian Growth Transition." *IMF Staff Papers*, vol. 52, no. 2, 2005, pp. 193-228. www.jstor.org/stable/30035894.
- 18 Rodrik, Dani. "The past, present, and future of economic growth." *Challenge* 57.3 (2014): 5-39.
- Saint-Paul, Gilles, and Thierry Verdier. "Education, democracy and growth." *Journal of development Economics* 42.2 (1993): 399-407.
- 19 Subramanian, Arvind. "Incentivising Pulses Production Through Minimum Support Price and Related Policies", Ministry of Finance, Government of India.